International Journal of Applied Research 2018; 4(10): 464-465

ISSN Print: 2394-7500
ISSN Online: 2394-5869
Impact Factor: 5.2
IJAR 2018; 4(10): 464-465
www.allresearchjournal.com
Received: 13-08-2018
Accepted: 17-09-2018

अर्चना कुमारी
शोधार्थी, हिन्दी–विभाग, ल.ना.मि. विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार, भारत

Corresponding Author:
अर्चना कुमारी
शोधार्थी, हिन्दी–विभाग, ल.ना.मि. विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार, भारत

प्रसाद के नाटकों में पुरुष वर्चस्व एवं स्त्री–अस्मिता

अर्चना कुमारी

सारांश
सामाज में स्त्री की छवि को अच्छी तरह उभार नही पाते तब तक स्त्री–अस्मिता या स्त्री मुक्ति की कामना व्यर्थ है। स्त्री की छवि को इस पुरुष वर्चस्वशील समाज ने अबला, गुलाम, कामिनी, माया इत्यादि नामों से पुकारा है। इन विभूषणों पर कानून, समाज, धर्म और सत्ता ने भी मुहर लगाई है। इतना ही नहीं, स्त्रियों का वर्णन करते समय भारत देश के तमाम महर्षि, सन्त, विद्वान और दार्शनिक भी उसे ऐसे निश्चित विचारों की सीमा में ही स्थान देते पाए जातें है।

मुख्य शब्द : पुरुष वर्चस्व, स्त्री–अस्मिता, सामाज में स्त्री की छवि

प्रस्तावना:
पुरुष वर्चस्व बनाम स्त्री – अस्मिता का सीधा सम्बन्ध स्त्री मुक्ति से है। प्रो॰ पुरुषोत्तम अग्रवाल अपनी पुस्तक 'संस्कृति वर्चस्व और प्रतिरोध' में लिखते हैं – 'दुनिया में अगर न्याय का कोई एक विश्वव्यापी संघर्ष है, तो वह नारी के लिए न्याय का संघर्ष। अगर किसी एक मुद्दे पर हर सभ्यता, हर परम्परा का दामन दागों से भरा हुआ है, तो वह स्त्री की अस्मिता का मुद्दा। इस न्यूनता का एहसास भी हर समाज के अवचेतन में मौजूद है। इसलिए अपने स्त्रीत्व के प्रति जागरूक और उसके प्रति आग्रहशील स्त्री से हर परम्परा डरती है, डरकर उसे गलियाती है। पुरुषवादी वर्चस्व की जो सत्ता स्त्री को हाशिए पर फेंकती है, वहीं सत्ता उपनिवेशीकरण के अपने समाज के भीतर और बाहर विविध रूप गढ़ती है। हमारे समाज का स्त्री–विरोध, श्रम–विरोधी आन्तरिक उपनिवेशीकरण वर्णाश्रम की विचारधारा और जाति–व्यवस्था की संरचना में व्यक्त होता है। जाति–व्यवस्था ने एक तरफ महिमा मंडन, दूसरी तरफ व्यक्तित्व के निषेध की चतुराई के जरिए ऐसा भावतंत्र गढ़ा है, जिसमें जीने वाली सवर्ण स्त्री स्वयं को शूद्र से नहीं, सवर्ण पुरुषवाद से जोड़ती है।[1]
जयशंकर प्रसाद की कृति ध्रुवस्वामिनी की शुरूआत ही वर्चस्व बनाम स्त्री–अस्मिता के चित्रण से होती है। नाटक के आरम्भ में ही ध्रुवस्वामिनी कहती है–'सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता, अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर! और इन क्षुद्र कोमल निरीह लताओं और पौधों को इसके चरण में लोटना ही चाहिए न।[2]
अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर! और इन क्षुद्र कोमल निरीह लताओं का आशय है स्त्री। यह है पुरुष और स्त्री के व्यक्तित्व की तुलना। प्रसाद के समय तक स्त्री के सम्बन्ध में सदियों में जो धारणा चली आ रही थी प्रसाद भी उससे मुक्त नहीं हो सके थे। वह भी मानते थे कि प्रकृति ने स्त्री को कमजोर और पुरुष को बलवान बनाया है। हम एशियाई, ओलम्पिक या अन्य खेल प्रतिस्पर्धाओं में देखते हैं कि स्त्रियाँ अपने शारीरिक गुणों और कौशल से किसी भी मायने में पुरुषों से कमतर नहीं है। यह सही है कि शारीरिक ढ़ाँचा पुरुषों से भिन्न है परन्तु हीन कदापि नहीं। प्रसाद जी उपर्युक्त अंश में लिखते हैं कि 'चरण में लोटना ही चाहिए न'। यह सिर्फ भौतिक वैभव को संकेतिक नहीं करता बल्कि इसमें दीनता का भाव भरा हुआ है। यह दीनता का भाव समाज की अंधी नैतिकता द्वारा ओढ़ाया गया है। यदि स्त्री इस तरह पुरुषों के चरणों में लोटने के लिए बनी है कहाँ है उसका अस्तित्व। स्त्री को वस्तु मान लिया गया है हमारे समाज में। वस्तु मानने का एक अनुपम उदाहरण महाभारत की द्रौपदी भी है जिसे जुए में दाँव पर लगाया जाता है। ठीक उसी तरह नायिका ध्रुवस्वामिनी की भी स्थिति है। उसके पिता ने उसे उपहार में दान देकर अपनी रक्षा की, फिर वह क्लीव रामगुप्त को सौंपी जाती है और नपुसंक रामगुप्त ने अपने सम्राज्य की रक्षा और अपने कुल की मर्यादा की रक्षा के लिए उसे शकराज को सौंपता है। रामगुप्त उससे प्रेम तो करता है लेकिन समानता की भावना से नहीं बल्कि अधिकारी और अधीनस्थ के भाव से। कहता है– 'जाओ, तुमको जाना पड़ेगा। तुम उपहार की वस्तु हो। आज मैं तुम्हें किसी दूसरे को देना चाहता हूँ। इसमें तुम्हें क्यों आपत्ति हो।[3] यह है पुरुष वर्चस्व।

हमारे समाज में कन्यादान की प्रथा सदियों से चली आ रही है जो आज भी प्रचलित है। ध्रुवस्वामिनी बाद में प्रतिरोध अवश्य करती है, किन्तु उसकी अन्तिम परिणति पुरुष रामगुप्त से विवाह–विच्छेद कर पुरुष चन्द्रगुप्त के हाथों में जाना ही है। ऐसा लगता है जैसे उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व ही नही है। यदि वह चन्द्रगुप्त से विवाह न कर अपना स्वतंत्र जीवन निर्वाह करती तों उसका व्यक्तित्व कुछ और ही होता।

शकराज का व्यक्तित्व भी रामगुप्त से कम नहीं है। उसके लिए तो स्त्री मात्र विनोद की वस्तु है। कोमा पूछती है– तो क्या आपकी दुश्चिंताओं में मेरा भाग नहीं? मुझे उससे अलग रहने से क्या वह परिस्थिति कुछ सरल हो रही हैं,?[4] तो शकराज कुछ भी सटीक जवाब नहीं दे पाता। वह तो स्त्री को फुर्सत में मात्र खेलने की चीज समझता है। वह सिर्फ अपने लिए ही ध्रुवस्वामिनी की माँग नहीं करता बल्कि अपने योद्धा–सामंतो के लिए भी स्त्री माँगता है। यहाँ स्त्री का अस्तित्व उसके लिए सिर्फ आदान–प्रदान की वस्तु है। इससे ज्यादा कुछ नहीं। यद्यपि कि कोमा शकराज के ऐसे व्यवहार से अपने को मुक्त करते हुए कहती है–'प्रेम का नाम न लो। वह एक पीड़ा थी जो छूट गई। उसकी कसक भी धीरे–धीरे दूर हो जाएगी। राजा मैं तुम्हें प्यार नहीं करती। मैं तो दर्प से दीप्त तुम्हारी महत्त्वमयी पुरुष–मूर्ति की पुजारिन थी, जिसमें पृथ्वी पर अपने पैरों से खड़े रहने की दृढ़ता थी। इस स्वार्थ मलिन कलुष से भरी मूर्ति से मेरा परिचय नहीं।[5] वह शकराज से मुक्त हो जाती है। कोमा को चाहिए कि शकराज से हमेशा के लिए मुक्त हो जाय, किन्तु ऐसा नहीं कर पाती। भारतीय नैतिकता उस पर हावी रहती है। प्रसाद जी इस तथा कथित नैतिकता से उबर नहीं पाते। कोमा शकराज के शव की भीख माँगती है। इसी चक्कर में उसे मौत के घाट भी उतार दिया जाता है। पुरुष वर्चस्व स्त्री की नस–नस में इतनी गहराई में समा गया है कि वह उसे पहचानती तक नहीं बल्कि उसे स्वेच्छा से शिरोधार्य कर धन्य समझती है अपने को।

'कामायानी' भी वर्चस्व और स्त्री–अस्मिता की दुःखद कहानी है। पुरुष मनु श्रद्धा से विवाहोपरान्त उसे छोड़कर चला जाता है और दूसरी इड़ा से बलात्कार की कोशिश करता है। यद्यपि कि मनु इड़ा के साथ किए गए व्यवहार का फल मिलता है। प्रजा उसके विरूद्ध विद्रोह कर देती है फिर भी जितना उपेक्षित मनु को होना चाहिए उतना नहीं होता। प्रसाद जी की सहानुभूति हमेशा उस सामन्ती सोच रखने वाले पुरुष मनु के साथ रहती है। प्रसाद की लगभग सभी रचानाओं में एक पक्षीय समर्पण दिखाई देता है जहाँ स्त्री उत्सर्ग में ही सुख मानती है। मैथिलीशरण गुप्त की दृष्टि 'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी, आँचल मे है दूध और आँखों में पानी'[6] तक जाती है तो प्रसाद भी दया, माया, ममता, से आगे नहीं जा पाते।

त्रिकोणात्मक प्रेम प्रसाद की लगभग सभी रचनाओं में मिलता है जो सामन्ती सोच का ही परिचायक है। मनु के साथ दो नायिकाएँ श्रद्धा और इड़ा, ध्रुवस्वामिनी में चन्द्रगुप्त को चाहने वाली ध्रुवस्वामिनी और मंदाकिनी। राज्यश्री में सुरमा के दो प्रेमी हैं एक तरफ विकटघोष है जो सुरमा से वास्तविक प्रेम करता है तो दूसरी तरफ देवगुप्त उसके रूप का प्रेमी है। विकटघोष एक बार राज्यश्री के समक्ष याचक होकर प्रस्तुत होता है, फिर सुरमा की ओर आकर्षित होता है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में नायक चन्द्रगुप्त की तीन प्रेमिकाएँ हैं। कल्याणी स्वयं कहती है– 'परन्तु मौर्य! कल्याणी ने वरण किया था केवल एक पुरुष को, वह था चन्द्रगुप्त। तुम मेरे पिता के विरोधी हुए, इसलिए प्रणय को–प्रेम पीड़ा को–मैं पैरों से कुचलकर, दबाकर खड़ी रही।[7] मालविका चन्द्रगुप्त की मूक प्रेमिका है। चन्द्रगुप्त द्वारा प्रणय याचना करने पर वह आशय के साथ कि अपने प्रिय के मार्ग में बाधा न बने और उसकी रक्षा हेतु आत्मविसर्जन का रास्ता चुन लेती है। उसका यह वाक्य–'मन का निग्रह करना महापुरुषों का स्वभाव है देव.... जाओ प्रियतम! सुखी जीवन बिताने के लिए और मैं रहती हूँ चिर–दुःखी जीवन का अन्त करने के लिए। जीवन एक प्रश्न है, और मरण है उसका अटल उत्तर।'[8] इसके अलावा कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त के बीच भी प्रेम धीरे–धीरे विकसित होता है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रसाद के नाटकों के पात्र अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों की विशिष्टता के कारण सामाजिक सन्दर्भ के अनुकूल अपने को सिद्ध नहीं कर पाते। पर प्रसाद अपनी कलात्मक क्षमता से उनमें कोई न कोई ऐसा मोड़ उपस्थित कर देते हैं कि वे अपना वैयक्तिक वैशिष्ट्य रखते हुए भी सामाजिक आदर्शों के वाहक बन जाते हैं।

सन्दर्भ–सूची –

1. 'संस्कृति वर्चस्व और प्रतिरोध', डॉ॰ पुरुषोत्तम अगंवाल', पृ॰–70
2. 'ध्रुवस्वामिनी', जयशंकर प्रसाद, पृ॰–10
3. वही, पृ॰–21
4. वही, पृ॰–28
5. वही, पृ॰–35
6. 'यशोधरा',मैथिलीशरण गुप्त, पृ॰–01
7. 'चन्द्रगुप्त',जयशंकर प्रसाद, पृ॰–125
8. वही, पृ॰–130–131